# रेवती रमण होने का अर्थ

सम्पादन
सतीश कुमार राय
अशोक गुप्त

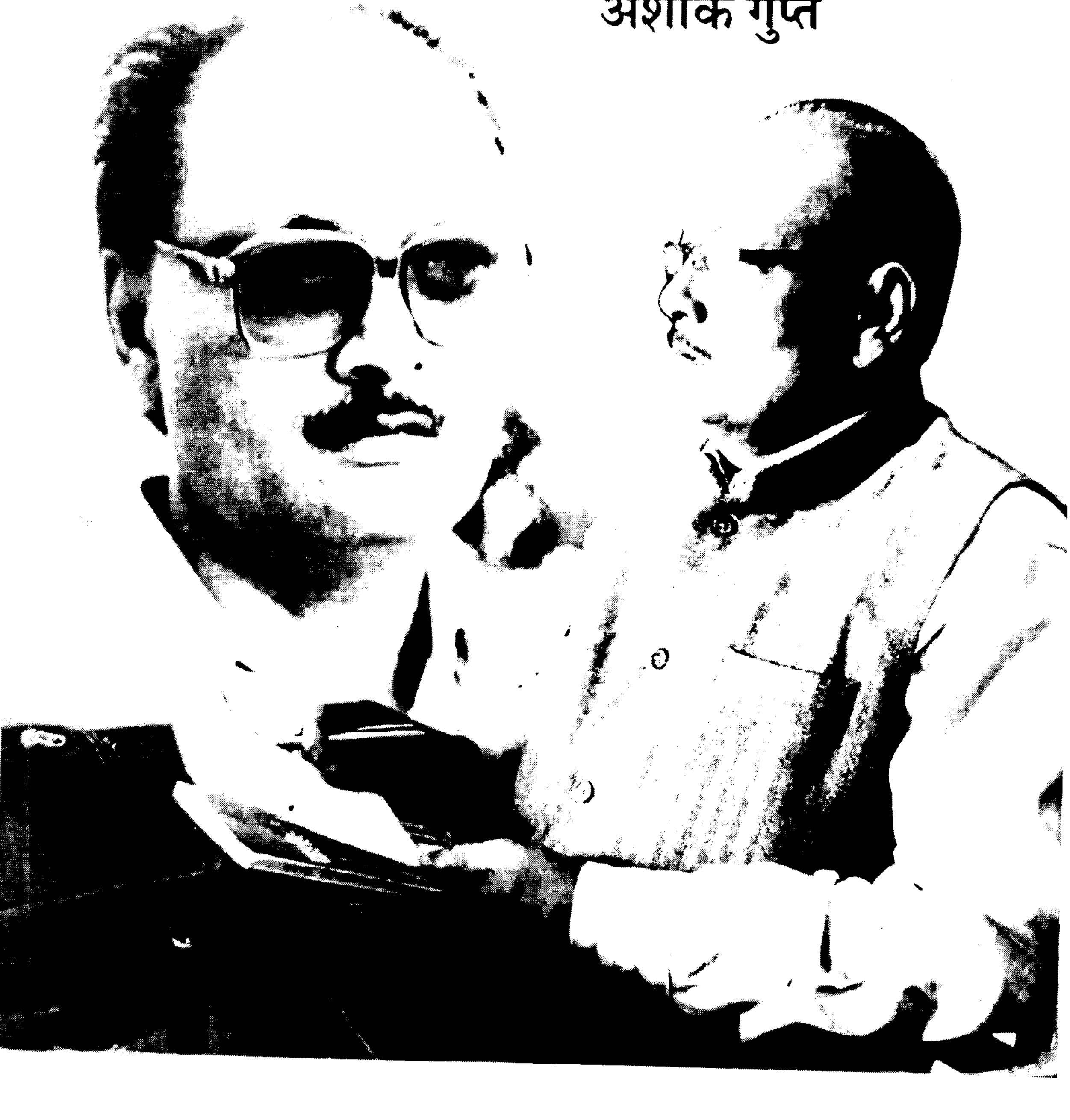

# रेवती रमण होने का अर्थ

सम्पादक

सतीश कुमार राय

अशोक गुप्त

अभिधा प्रकाशन

प्रथम संस्करण
2020
सर्वाधिकार
**सम्पादक**

**प्रकाशक**
अभिधा प्रकाशन
रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002

**अक्षर-संयोजन**
एस. कुमार

**मुद्रक**
बी० के० ऑफसेट, दिल्ली - 32

**मूल्य**
225/- (दो सौ पच्चीस रुपये)

---

**Rewati Raman Honey Ka Arth**
*Edited By* **Dr. S.K. Rai & A. Gupta** **Rs. 225.00**

# अनुक्रम


| | | | |
|---|---|---|---|
| सम्पादकीय | | : सतीश कुमार राय | 7 |
| प्रस्तुति | | : अशोक गुप्त | 21 |
| 1. | साथ चलते हुए | : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी | 23 |
| 2. | हिन्दी साहित्य के चर्चित आलोचक... | : रिपुसूदन श्रीवास्तव | 26 |
| 3. | आलोचना का कालयात्री | : मदन कश्यप | 32 |
| 4. | रेवती रमण की आलोचकीय सक्रियता | : रामप्रवेश सिंह | 36 |
| 5. | डॉ. रेवती रमण की आलोचना-दृष्टि | : विजयशंकर मिश्र | 42 |
| 6. | साक्षात्कार | : राकेश रंजन | 46 |
| 7. | साक्षात्कार | : कल्याण कुमार झा | 57 |
| 8. | समय की रंगत | : अंजना वर्मा | 66 |
| 9. | एक आलोचक का कवि | : पूनम सिंह | 71 |
| 10. | अजनबियों के संग चल रहा थका अकेला | : राकेश रंजन | 77 |
| 11. | कविता और मानवीय संवेदना | : जगदीश विकल | 84 |
| 12. | युवा समीक्षक का प्रबुद्ध समीक्षात्मक विवेक? | : वेदप्रकाश अमिताभ | 90 |
| 13. | समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य | : कृष्णचन्द्र लाल | 94 |
| 14. | समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य... | : रवीन्द्र उपाध्याय | 99 |
| 15. | रचना की तरह आलोचना | : रमेश ऋतंभर | 103 |
| 16. | रेवतीरमण का 'समकाल' | : प्रेमशंकर रघुवंशी | 105 |
| 17. | 'कविता में समकाल' एक समीक्षा कृति | : श्रीराम परिहार | 108 |
| 18. | संघर्ष तपी काव्य-साधना का संधान | : शेखर शंकर मिश्र | 115 |
| 19. | जातीय संवेदना के सजग साहित्य चिन्तक | : संध्या पाण्डेय | 121 |
| 20. | जातीय मनोभूमि की तलाश | : अनन्तकीर्ति तिवारी | 125 |
| 21. | सहज-सरल, स्वाभिमान की आवाज | : सुशांत कुमार | 130 |
| 22. | 'आवाज के परिन्दे' और उनके सलीम अली | : अनामिका | 134 |
| 23. | समकालीन कविता की पुख्ता पहचान | : रामेश्वर द्विवेदी | 141 |
| 24. | कवियों की गली से गुजरता कवि आलोचक | : उज्ज्वल आलोक | 147 |
| 25. | पुस्तकों के फ्लैप से | | 153 |
| **चिट्ठी-पत्री** | | | 155 |
| **चित्रावली** | | | 191 |

# 'विरोध-प्रतिरोध के साथ होने का ढोंग आलोचक को कहीं नहीं पहुँचाता'

## (प्रो. रेवतीरमण से राकेश रंजन की बातचीत)

प्रो० रेवती रमण के कर्तृत्व के कई आयाम हैं। प्रखर आलोचक, सुकवि, कुशल वक्ता और शिक्षक के रूप में उनकी अपनी पहचान है। वे साहित्य, शिक्षा और संस्कृति के यक्ष-प्रश्नों से टकराते रहे हैं और अपनी सतर्क स्थापनाओं से अभिभूत करते रहे हैं। प्रस्तुत साक्षात्कार में युवाकवि और आलोचक डॉ० राकेश रंजन ने उनके साथ सार्थक संवाद किया है और उनके अंतर्मन की कई परतों को खोलने की सफल चेष्टा की है। प्रस्तुत है इस लंबे साक्षात्कार का संक्षिप्त अंश—

*पिछले चार दशकों से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आपकी सक्रिय उपस्थिति रही है। इस बीच कई दौर आए-गए; कई पीढ़ियाँ गुजरीं; कई विवाद उठे और कई बार आरोप-प्रत्यारोपों ने हिन्दी परिदृश्य को प्रदूषित किया। आज जब आप पीछे मुड़कर देखते हैं, तो क्या सोचते हैं?*

पिछले चार दशकों से पढ़-लिख रहा हूँ—'लगे रहो मुन्ना भाई' की उक्ति को चरितार्थ करता हुआ। इस बीच कई पीढ़ियाँ उभरीं, अस्त हुईं। वाद-विवाद खूब हुआ। मैं अकानता रहा, प्रतिमानों की परिक्रमा करता रहा। मुझे कोई रंज नहीं है। अपने विश्वविद्यालय का हिन्दी-विभाग मेरे लिए ऑक्सफोर्ड-कैम्ब्रिज बना रहा। विद्यार्थियों के बीच रहते हुए, गुरुओं की चरण-धूलि शीश पर चढ़ाते हुए मैं अपने में मगन रहा। कैसे कुछ पुस्तकें छप गईं, पता नहीं। मैं धारा में तिनके की तरह बहता रहा। इस दौरान दौड़ते-भागते कुछ उनम प्रकृति के साधकों का मुझे सान्निध्य मिला।

पीछे मुड़कर क्यों देखूँ? मेरा कोई राजमहल तो था नहीं।
मिट्टी का घर था, मिट्टी में मिल गया।

*कहा जाता है कि दिल्ली से दूर रहनेवाले लेखकों के योगदान को हिन्दी में उचित महत्त्व नहीं मिलता। उनका वास्तविक साहित्यिक कद पाठकों की आँखों से ओझल रहता है, उनकी ख्याति बाधित होती है। इस पर आप क्या*

*कहेंगे?*

दिल्ली को हम व्यर्थ ही दोष देते हैं। वहाँ की संस्थाओं के अधिसंख्य अधिपति बाहर के ही रहे हैं। हमारे हिन्दी प्रदेशों में ग्रासरूट की साहित्यिक-सांस्कृतिक हलचलें, गतिविधियाँ कम हो गई हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में प्रतिभाओं की पहचान ग्रासरूट से होती है। हिन्दी में आलाकमान की भूमिका खास है। यह प्रतिभाओं की पहचान की उल्टी प्रक्रिया है। घोर अविश्वसनीय। गाँव-जवार, कस्बा-बाजार, स्कूल-कॉलेज के स्तरों से पहले प्रतिभा की पहचान होती थी। प्रौद्योगिकी ने प्रकाशन-प्रक्रिया को आसान किया है। तब भी यह सभ्यता है जो सबको भगाये जा रही है। गाँव से शहर, शहर से नगर-महानगर, फिर दिल्ली और वहाँ से विदेश, इन दिनों अमेरिका। यह दारुण स्थिति है। इसी अफरा-तफरी में आधी-अधूरी रचना और आलोचना लिखी जा रही है। उसमें अपूर्णता ही कला है, चमक है।

*हिन्दी आलोचना में आपको अपना मूल्यांकन करना हो, तो किस रूप में करेंगे?*

आप चिराग तले अँधेरा की चर्चा चाहते हैं। हाशिये पर हो सकता हूँ। इरादा है गौण समझे जाने वालों की खोज-खबर लेना। मैं साहित्य का अध्यापक हूँ। अध्यापक और विद्यार्थी में खास फर्क नहीं होता। रचनाकार होना, आलोचक होना मेरे लिए दूर की कौड़ी जैसी बात है।

प्रायः लिखते रहने से पैंसठ की उम्र जी लेना कुछ आसान हुआ है। यह मेरा चुना हुआ कर्म नहीं है। प्रदत्त का भार वहन करना व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आहत करना है। बिना पढ़े जो मुझे आलोचक कहते हैं, मैं उनका आभारी हूँ। दरअसल साँस लेने के लिए छटपटाते म्रियमाण मनुष्य की कोशिश है मेरा लेखन। अतिशय स्वेच्छाचारी, नितान्त वैयक्तिक। मैंने जो भाष्य लिखे, वे वाच्यार्थ को उलझाने वाले सिद्ध हुए। रचना में प्रयुक्त शब्द निर्विकल्प होते हैं जबकि मैं उनके पर्यायवाची शब्दों की तलाश में शब्दकोशों की खाक छानता रहा। अन्वय हो या विपर्यय, व्यतिक्रम विभ्रम का विस्तार करता रहा। मूल पाठ तक जिज्ञासा को पहुँचा देना ही कर्त्तव्य था। मैंने सार्थक कुछ किया क्या?

*अपने बचपन के दिनों के बारे में बताएँ। आपके साहित्यिक जीवन के उन्मेष में आपके ग्रामीण परिवेश की क्या भूमिका रही? आपने लिखना कब शुरू किया?*

बचपन के दिन तो अद्भुत-अपूर्व थे। गाँव की पाठशाला में ही पढ़ाई

हुई। मिड्ल स्कूल तक। प्राइमरी में एक दुखरन मास्टर जैसे रामलखन पाण्डे की याद है। पं. हृदयनारायण मिश्र का स्नेह और आशीर्वाद मिला। वे संस्कृत पढ़ाते थे। डण्डा नदी के किनारे-किनारे पैदल स्कूल जाना। बरसात के दिनों में नाव न रहने पर उसे तैरकर पार करना। पढ़ने से ज्यादा अन्य कार्यों में रुचि थी। बल्कि पढ़ाई बेकार लगती थी। हम गाँव में सवर्ण समझे जाते थे, किन्तु आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। मेरा मन कृषि-कार्य में रमता था। हर तरह का काम करता। पशुपालन से लेकर अनाज उत्पादन तक। पेड़ पर चढ़कर पका फल तोड़कर सबसे पहले खा लेने का सुख था। गाँव की वह पगडण्डी। बारिश के दिनों में मछली मारना। हालाँकि उन दिनों मैं मांसाहारी नहीं था। हमारी अपनी फुलवारी थी। उसमें आम, अमरूद, लीची के पेड़ बहुत थे। गाँव में कोई गैर नहीं था। घर में मैं सबसे छोटा था। पाँव में चप्पल-जूते तो नहीं थे, पर बड़े-बुजुर्गों का हाथ सिर पर था। वे भी क्या दिन थे! दोपहर के बाद ही हाथ में फुटबॉल लेकर हम दरवाजे-दरवाजे घूमते रहे। उसमें हवा भरने के लिए पम्प माँगते। कॉलेज में पढ़ेंगे, प्रोफेसर बनेंगे, यह तय नहीं था। अब लगता है—कबीर-रैदास का बेगमपुरा था हमारा गाँव।

*अपने साहित्यिक जीवन के विकास में परिवार और पत्नी की भूमिका को आप किस रूप में देखते हैं?*

पिता को 'प्रिय-प्रवास' याद था। वे 'विनय-पत्रिका' के पद गाते। भोर में उनके पराती गायन की यादें हैं। माँ नित्य 'रामचरितमानस' का पाठ करतीं। उन्हें कभी कोई सुख नहीं मिला। माँ को मैंने अक्सर रोते देखा, वजह थी पिता का वैराग्य। माँ के आँसू कभी सूखे नहीं। वे एक सम्पन्न-सुसंस्कृत परिवार से आई थीं। उन्हें सुख देने योग्य जब मैं हुआ, वे चल बसीं। मेरा शेष जीवन माँ के लिए कभी खत्म न होने वाला विलाप ही तो है।

आमतौर पर साहित्यकारों के लिए जैसे वातावरण की बात कही जाती है, वैसा मुझे नहीं मिला। पत्थर पर दूब उगाने की कोशिश मैंने कभी की ही नहीं। एक रहस्य की बात कहता हूँ। लिखने के लिए लोग एकान्त की तलाश करते हैं, किन्तु वह श्मशान है। बच्चे कोलाहल करते रहें, पत्नी चाहे-अनचाहे लयभंग, ध्यानभंग करती रहे, तो ही लिखने का आनन्द है। मैं वनवासी नहीं हूँ, ग्रामवासी हूँ मन से। समुद्र का जल मसि हो और सुरतरुवर लेखनी, तो भी क्या एक भारतीय मनुष्य पत्नी के गुणों का बखान कर सकता है? सब उनका ही तो किया है। मेरे प्रवासी पुत्रों को भी मेरी चिन्ता रहती है।

*आप कविता भी लिखते रहे हैं। मुझे लगता है कि आपके लेखन की शुरुआत कविता से ही हुई होगी। फिर आलोचना के क्षेत्र में आपकी रुचि कैसे जागृत हुई? आप कबसे यह कार्य कर रहे हैं?*

कविता से पहले गीत लिखता था। 'इस तरह बोले कि जैसे कुछ नहीं बोले', 'घिर गए हैं हम अविश्वसनीयता के कठघरे में' या 'तुम नहीं आए' जैसे गीत अस्सी के दशक में 'आजकल', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में छपे थे। पर ऐसा नहीं हुआ कि कविता लिखना छोड़कर गद्य लिखने लगा। दोनों साथ-साथ, समानान्तर रहे। लिखने या प्रकाशित होने की प्रबल चाह नहीं थी। किन्तु कवियों-लेखकों को सुनना, उनकी संगति करना अच्छा लगता था। तो जैसे खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है, कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ। शुरू में मैंने तीन-चार कहानियाँ भी लिखीं। मुक्तिबोध की लम्बी कविताएँ समझ तो नहीं आती थीं, पर कोशिश करता था उन्हीं की तरह लम्बी कविता लिखने की। बीड़ी पीते हुए। बनी नहीं तो बीड़ी पीना बन्द कर दिया। वह प्रीतिकर नहीं था। सोचता था ऐसा करने से बात बन जाए। मैंने ज्यादा पुस्तक-समीक्षा लिखी है, किताब के लोभ में। इस क्षेत्र में दस्तावेज ने बड़ी सहायता की।

1983 में दस्तावेज में मलयज की कविता-पुस्तक की समीक्षा छपी। उसी साल 'समकालीन भारतीय साहित्य' में निराला की कहानियों पर लेख आया। तब उसके सम्पादक थे गुलशेर खान शानी। तब तक अपने शहर की 'मंतव्य' और 'अभियान' में 'केदारनाथ सिंह का कवि-कर्म' और 'पटकथा : बुराई के खिलाफ बगावत का ढंग' जैसे लेख छप चुके थे। कमोबेश पैंतीस वर्षों से लगातार कुछ-न-कुछ लिख रहा हूँ, किन्तु अपने लेखन की श्रेष्ठता को लेकर मैं कभी आश्वस्त नहीं रहा।

*एक आलोचक का क्या धर्म है? एक सच्चे आलोचक के कौन-कौन से मूल्य हो सकते हैं?*

इधर डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की एक किताब आयी है—'साहित्य का स्वधर्म'। साहित्य में कविता-कहानी है तो निबन्ध-आलोचना भी। इसलिए विस्तार से आलोचक के धर्म को जानना हो, तो साहित्य का स्वधर्म पढ़ना चाहिए। एक किताब नन्दकिशोर आचार्य की भी है—'साहित्य का स्वभाव'। धर्म हो, स्वभाव हो, स्वधर्म हो, जो हो—आलोचना या समीक्षा व्याख्या का विस्तार ही है। मैं पढ़ाने की अपेक्षा पढ़ने में विश्वास करता हूँ, समझाने की अपेक्षा खुद समझने की चेष्टा करता हूँ। पाठ में 'क्या कहा गया है' और 'कैसे

कहा गया है' को ही परखने की कोशिश करता हूँ। पहले लम्बा लिखकर ही मन मुदित रहता था। तीन दशकों की कलम घिसाई के बाद समझ आई है कि छोटा, संक्षिप्त लिखना ही अच्छा है, पाठकों के काम का। पठनीय हो। पहले कोई पढ़ता नहीं था, तो कोई चिन्ता नहीं रहती थी।

लेखन विचारधारा के अनुरूप होना चाहिए या विचारधारा लेखन के अनुरूप? नाटक रंगमंच के अनुरूप होना चाहिए या रंगमंच नाटक के अनुरूप? मैं ज्यादातर रचना से आत्मीय संवाद को ही प्राथमिकता देता हूँ। रचना जो मुझसे कहती है, उसे ही विस्तार देता हूँ। मुझमें साहस है, पर मेरा कोई जनाधार नहीं है। तो ज्यादा मैंने प्रशंसात्मक ही लिखा है। वैसे, एक की प्रशंसा से कई दूसरे नाराज हो जाते हैं। सन्तुलन, सामंजस्य, समन्वय, व्यवस्थित जैसे शब्द आज के मनुष्य के जीवन में अजनबी हैं। हमारा समय मूल्य के आवरण में मूल्य-वंचना के अधीन है। इसलिए रचना में व्याप्त अव्यवस्था ही उसके व्यवस्था-विरोध की गवाही लगती है। धूमिल ने थाली में महीन चावल की चर्चा की है।

*आपके अनुसार हिन्दी आलोचना की मुख्य उपलब्धियाँ क्या हैं? इसकी विकासधारा या इसके मूल चरित्र को आप किस रूप में व्याख्यायित करना चाहेंगे?*

हिन्दी आलोचना पर्याप्त से अधिक समृद्ध है। गद्य, पत्रकारिता और आलोचना एक ही समय के सन्दर्भ हैं। गद्य को कवियों की और निबन्ध को गद्य की कसौटी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था। पर मुझे लगता है, गद्य स्वभावतः आलोचक होता है। जो अखबारी भाषा के खिलाफ बोलते हैं, वे जीवन-संग्राम से विमुख हैं। आलोचना कविता में भी होती रही है। कबीर का उदाहरण है।

हिन्दी में आलोचना की उपलब्धियाँ स्पृहणीय हैं। इस भाषा को शुक्ल जी जैसा आलोचक मिला। डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्हें डॉ. जॉनसन से बड़ा माना है। डॉ. नामवर सिंह एफ.आर. लीविस की चर्चा करते हैं, किन्तु लीविस उनके सामने बौने लगते हैं 'द ग्रेट ट्रेडिशन' लिखने के बावजूद। इस भाषा में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसा भारतीय मनीषा का प्रतिनिधित्व करने वाला आलोचक हुआ है। नाम तो बहुत हैं—आ. नन्ददुलारे वाजपेयी से लेकर डॉ. नन्दकिशोर नवल तक। सब क्या एक ही विचारधारा के हैं? बड़ी संख्या में रचनाकार आलोचक हैं। प्रेमचन्द-निराला से लेकर अरुण कमल तक। दिनकर

जी की आलोचनाएँ दृष्टि-सम्पन्न ही नहीं, दृश्य-विस्तारक भी हैं।

हिन्दी आलोचना का स्वर्ण समय अतीत में बदल गया है फिर भी। विगतवैभव हो जाने पर, भँवर में फँस जाने पर भी स्वप्न और यथार्थ का अन्तर जानने का हमारे पास अन्य जरिया कोई नहीं है।

*आपकी दृष्टि में वे कौन-सी आलोचनात्मक कृतियाँ हैं, जिन्होंने हिन्दी आलोचना को स्पृहणीय दिशा में विकसित किया है?*

यह एक बड़ा सवाल है। 'रसमीमांसा' का नाम लूँगा। शुक्ल जी का सब—चिन्तामणि (चार भाग) से लेकर जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, त्रिवेणी और हिन्दी साहित्य का इतिहास। द्विवेदी जी का 'सूर साहित्य', 'कबीर'। रामविलास जी की किताब 'परम्परा का मूल्यांकन' और नामवर जी की प्रायः सभी कृतियाँ। उत्तर नामवर पीढ़ी के लेखकों में मार्क्सवादियों से अधिक सार्थक आलोचना उनके विरोधियों ने लिखी है। मसलन प्रभाकर श्रोत्रिय, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, अशोक वाजपेयी, रमेशचन्द्र शाह आदि ने। कभी-कभी मेरे मन में यह सवाल उठता है कि हिन्दी में इतने समर्थ प्रगतिशील आलोचक हुए, किन्तु उनमें से किसी को भी पश्चिम में मार्क्सवादी चिन्तन-परम्परा में जगह क्यों नहीं मिली? मिलनी चाहिए थी। नहीं मिली जगह तो कहीं इस वजह से तो नहीं कि उन्होंने अंग्रेजी में नहीं लिखा। अंग्रेजी हुक्मरानों की भाषा है और हिन्दी संघर्षशील स्वाभिमानी जनता की।

*आपके प्रिय आलोचक कौन हैं और क्यों?*

मेरे प्रिय आलोचक कौन हैं? कभी सोचा नहीं। प्रिय कवि, प्रिय कहानीकार का नाम पूछते तो तुरन्त बता देता। वैसे मुझे अरुण कमल की आलोचना प्रिय तो नहीं, पठनीय अवश्य लगती है। शम्भुनाथ की भाषा बेहतर है। 'क्यों' का जवाब मुश्किल है। शायद विचारक की तनी हुई मुद्रा, उसका सत्याग्रह। आलोचना भी तो अन्ततः अभिव्यक्ति का एक माध्यम ही है। एक अधिक जिम्मेवार माध्यम। तो उसकी भी एक निजी संरचना होगी। श्रेष्ठ गद्य वही लिख सकता है, जिसमें चीजों को उनके वास्तविक नाम से पुकारने का साहस हो।

सम्प्रति स्वतन्त्र आलोचकों की अपेक्षा रचनाकार समझे जाने वाले बेहतर आलोचना लिख रहे हैं यानी कि जो श्रेष्ठ रचनात्मक है, वही श्रेष्ठ आलोचनात्मक है।

डॉ. नामवर सिंह सार्वकालिक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। 'हिन्दी

के विकास में अपभ्रंश का योग' मेरी समझ में उनकी सबसे अच्छी आलोचना कृति है। उसकी हर पंक्ति एक नई खबर है।

*हिन्दी आलोचना प्रायः काव्य-केन्द्रित है। काव्यालोचना के क्षेत्र में बहुत सारे आलोचकों ने योगदान दिया है, लेकिन उसी अनुपात में कथालोचना के क्षेत्र में काम नहीं हुआ है। इसके क्या कारण हो सकते हैं?*

हिन्दी आलोचना के मुख्यतः काव्यालोचना होने की खास वजह माँग के हिसाब से उत्पादन की मजबूरी है। कथालोचना भी हुई है, डॉ. गोपाल राय ने लिखी है, मधुरेश और विजयमोहन सिंह ने लिखी है। 'आलोचना' पत्रिका में प्रायः हर अंक में कोई न कोई लेख रहता था। कथालोचना हुई है पर 'कहानी : नई कहानी' के स्तर की नहीं। डॉ. विश्वनाथ तिवारी की दो पुस्तकें 'गद्य के प्रतिमान' और 'गद्य का परिवेश' महत्त्वपूर्ण हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री की किताब 'हंसबलाका' महत्त्वपूर्ण है।

*हिन्दी में दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श और आदिवासी-विमर्श के तहत लिखित साहित्य को आप किस रूप में देखते हैं?*

हिन्दी में उत्तर-आधुनिकतावादी लेखन की इन प्रवृत्तियों को समझने के लिए जितने श्रम और अध्यवसाय की आवश्यकता है वह मेरी क्षमता के बाहर है। अभी मैं आलवार भक्तों का साहित्य पढ़ रहा हूँ–'दिव्यप्रबन्धम्'। रैदास और मीरा के साथ गोरखवाणी का पाठ मुझे नये रूप में रच रहा है। यह 'गीत गोविन्द' के पाठ-पुनर्पाठ का समय है।

*समकालीन आलोचना के समक्ष आज कौन-सी चुनौतियाँ हैं?*

समकालीन आलोचना के सामने सबसे बड़ी चुनौती है साहस की। क्योंकि जैसा कि केदारनाथ सिंह ने लिखा था–

ठण्ड से नहीं मरते शब्द
वे मर जाते हैं साहस की कमी से।

वैसे आलोचना यदि परम्परागत काव्यशास्त्र है, तो याद कीजिए ब्रेख्त को। उन्होंने इसे सत्ताविषयक मीमांसा के रूप में ही देखा था। विरोध-प्रतिरोध के साथ होने का ढोंग आलोचक को कहीं नहीं पहुँचाता। अन्ततः उसका दायित्व है नियमन और कुल मिलाकर संरचना का सम्यक् अनुशीलन। रचनाकार इन्नोवेशन करता है तो आलोचक उसके अभिज्ञान का रेखांकन।

*आज हिन्दी की मुख्यधारा का प्रायः हर कवि 'जनवादी' है, मगर उसकी कविताएँ जनता के जीवन में शामिल नहीं हो पा रही हैं। इस विरोधाभास*

*के पीछे आप क्या कारण देखते हैं?*

हिन्दी में मुख्यधारा की बात की जाती रही है। वह केवल बात की बात है। फुटकल खाता साहित्येतिहास-लेखन में उपयोगी होता है, आलोचना में नहीं। आलोचना शब्द-ज्योति है, रचना में निहित प्रकाश का विस्तार-प्रसार उसका मुख्य कार्य है। जनवादी-प्रगतिशील के नाम पर काफी कचरा जमा हो गया था। विरोधाभास में विरोध का आभास-मात्र होता है, वास्तविक विरोध नहीं। कविता सब कविता नहीं होती। ऐसे ही जनता सब जनता नहीं होती। लोग बहुत सयाने हो गये हैं। वे जनवादी-प्रगतिशील ही नहीं, सूर-जायसी को भी नहीं पढ़ते। जनता के जीवन में वाल्मीकि-तुलसी की कविता भी शामिल नहीं है। यह कवि और कविता के विरोध का सबसे चालू मुहावरा है।

*'पठनीयता का संकट' आज एक बड़ी समस्या है। इसकी क्या वजहें हैं?*

पठनीयता का संकट लेखन की श्रेष्ठता के सापेक्ष है। कविकुलगुरु कालिदास जब उज्जैन पहुँचे थे, तो उनके स्वागतार्थ वहाँ के पाँच सौ कवि जुटे थे। मुझे लगता है, एक कालिदास के मंचासीन होने के लिए पाँच सौ कवियों का नेपथ्यगमन अनिवार्य है। यह साहित्येतिहास का सच है। वैसे यह किसी हद तक अफवाह भी है। कोई दूध का धुला नहीं है।

*निराला ने 'परिमल' की भूमिका में मुक्तछन्द की प्रस्तावना करते हुए कहा था कि 'मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है' और 'मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है।' लेकिन आज कविता नीरस गद्य में बदल गई है। क्या आपको नहीं लगता कि समकालीन कवियों ने मुक्तछन्द के स्वरूप को ठीक से नहीं समझा और प्रायः उसका दुरुपयोग किया है और इस समस्या ने हिन्दी समाज को कविता-विमुख करने में बड़ी भूमिका निभाई है?*

मुक्तछन्द को छोड़ देने से और मंच पर गीत-गजलों की प्रस्तुति से जनता कविता-प्रेमी बन जाए तो कितना अच्छा हो! कविता के जिस फार्म को आप बेहतर मान रहे हैं यानी छन्दोबद्ध काव्य का आग्रह कर रहे हैं तो प्रयोग कीजिए और देखिए कि क्या होता है? कविता को दरअसल आप कैरियर के रूप में बरत रहे हैं। यह दरबारी संस्कृति का नया परिदृश्य है। रीतियुग में कविता कला आस्वाद की वस्तु बन चुकी थी। कविता रचना के बल पर कवि दरबारों में जगह बनाना चाहता था। छन्द के साथ छल छन्द का प्रयोग होता

है। निराला समझ रहे थे। उन्होंने कविता-रचना की सारी खिड़कियाँ, दरवाजे खोल दिये। आज के आलोचक की मुश्किल है—यथार्थ की पहचान क्योंकि रावण भी कहता राम-राम और शूर्पणखा सीता-सीता। 'मुक्तछन्द सहज प्रकाशन वह मन का निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र' निराला ने कहा था, इसलिए कि वे एक लोकतन्त्र प्रेमी थे। कविता के प्रांगण में ऐसी उपस्थिति चाहते थे जो सहभागिता में पीछे न रहे।

*मुक्तिबोध ने अपनी 'डायरी' में लिखा है कि आजादी के बाद के बदले हुए परिदृश्य में देश में अवसरवादिता बढ़ी है, लोभ-लाभ बढ़े हैं, स्वार्थ-चापलूसी जैसी चीजों में इजाफा हुआ है। इस परिदृश्य ने और पूँजीवादी इच्छाओं के असर ने सर्जक-व्यक्तित्व को भी विघटित और विखण्डित किया है, उसे बौना बनाया है। लोंजाइनस ने कहा था कि कलुषित चित्त में सौन्दर्य का उन्मेष असम्भव है और छोटे दिमाग में बड़ा विचार पैदा नहीं हो सकता। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि इन स्थितियों ने आज हिन्दी में किसी महान् लेखक के अभ्युदय की सम्भावना को समाप्त कर दिया है?*

'व्यक्तित्व का विघटन' मैक्सिम गोर्की की भी चिन्ता का विषय था। वर्गों में विभाजित समाज में स्वाभिमान का दावा वे ही करते हैं जिन्हें कई तरह की सुविधाएँ प्राप्त हैं। निराला की 'भिक्षुक' शीर्षक कविता में आदमी और कुत्ते का द्वन्द्व वर्णित है। प्रेमचन्द की 'पूस की रात' कहानी में भी। आर्थिक सम्पन्नता ऐसे में कई बार मन को अपराध-बोध से भर देती है। आप जिन चिन्ताओं को फोकस में लाना चाहते हैं वे भरपेट खा लेने के बाद का डकार जैसी हैं। लोंजाइनस की उक्ति का विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ है। कोई दिमाग प्रकृत्या बड़ा-छोटा नहीं होता। परिवेश और परिस्थिति ही उसे बड़ा-छोटा बनाती है। आपके प्रश्न में अन्तर्विरोधी बाते हैं। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। हिन्दी में किसी महान् लेखक के अभ्युदय की सम्भावना से इंकार करना निराशावाद है।

*हिन्दी आलोचना के वैचारिक पूर्वग्रहों से हुए साहित्यिक नुकसान का मूल्यांकन आप किस रूप में करते हैं?*

वैचारिक पूर्वाग्रह अपने आलम्बन का ही अहित करते हैं। सच्ची रचनाशीलता की सेहत पर उसका कोई असर नहीं होता। हाँ, साहित्य को व्यापार की वस्तु समझने वाले अवश्य पछताते रह जाते हैं। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी को वसन्त आत्मदान का संदेशवाहक प्रतीत होता है। कबीर ने कहा था

साधु न चलै जमात। यह सच है। शत-प्रतिशत सच है। जहाँ धनबल है, जनबल है, ताकत है, ताकत का घमण्ड है, वहाँ सिसृक्षा सन्देहास्पद है।

*आपकी दृष्टि में एक साहित्यकार के लिए किसी साहित्यिक संगठन या खेमे की क्या उपयोगिता है?*

बड़े और महाप्राण कवियों-लेखकों के लिए संगठन आवश्यक नहीं है। वे जहाँ भी होंगे, ऊँचे आसन पर ही विराजेंगे। साधारण प्रतिभाओं को टूट-बिखर जाने से बचाने के लिए संगठन की आवश्यकता है। पर ऐसा कोई संगठन नहीं दिखाई देता जिसके सदस्य लेखक एक-दूसरे के सुख-दुःख में शामिल हों। सम्प्रति दो तरह के वादों का प्रचलन है—1. भाग्यवाद और 2. किसी हद तक जातिवाद। लेखक भी आदमी है, साधारण मनुष्यों के बीच का मनुष्य। वह जब पहचान लिया जाता है, तब विशिष्ट हो जाता है। लेकिन साँस तो उसे लेनी है इसी हवा में। प्रतिभा कारयित्री हो, भावयित्री हो—वस्तुतः जिसमें होगी, पहचानी भी जायेगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला, इसलिए समय तय नहीं है। जो जितनी जल्दी पहचान लिये जाते हैं, उतनी जल्दी भुला दिये जाते हैं। मनुष्यता सब कहीं एक है। ज्ञान का अहंकार समय से पहले ही डुबो देता है, बहरहाल!

*अधिकांश रचनाकार ऐसा मानते हैं कि आजकल हिन्दी आलोचना का क्षितिज संकीर्ण हो गया है। आलोचक अपने मित्रों की रचनाओं पर ही अधिक विमर्श करते हैं। समग्र रूप से मूल्यांकन कोई नहीं करता। इस पर क्या टिप्पणी करना चाहेंगे?*

आलोचना अपने श्रेष्ठतम स्वरूप में अतीत से वर्तमान का संवाद होती है। वर्तमान का वर्तमान से संवाद स्वार्थ-मुक्त नहीं हो पाता। रचना की महानता से ही आलोचना महान होती है, यह एक मानी हुई बात है। आप मुझे कीचड़ में घसीट रहे हैं। मित्र-संवाद से बेहतर क्या हो सकती है रचना या आलोचना?

*आलोचना की नई पीढ़ी ने 'शार्टकट' का जो रास्ता अपनाया है, उस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?*

'शार्टकट' से आपका क्या अभिप्राय है? स्पष्ट नहीं होता। आलोचना भी रचना की तरह ही विकसित होती है, उसकी भी विकास-प्रक्रिया है। पहले मैं सम्पादकों को पत्र लिखता था, उसमें पत्रिका के प्रकाशित ताजा अंक में संकलित रचनाओं को पढ़कर दो-चार पंक्तियों में दी गई प्रतिक्रिया होती थी। उसके प्रकाशित होने से पत्र-लेखक को न केवल प्रकाशन-सुख मिलता था बल्कि

उसका परिचय-क्षेत्र भी बढ़ता था।

*नए आलोचकों में आपको किनमें सम्भावनाएँ नजर आती हैं? उनके बारे में कुछ बताना चाहेंगे ?*

सबसे नया तो मैं ही हूँ, किन्तु अपने में मुझे कोई संभावना नजर नहीं आती।

*अपने समकालीन आलोचकों से आप किस सीमा तक प्रभावित हैं? आलोचना के क्षेत्र में अपना सहयात्री आप किन आलोचकों को मानते हैं?*

लेखन के स्तर पर नहीं, किन्तु व्यक्ति-रूप में मैं डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी से प्रभावित हूँ। उनके विचार-व्यवहार और निरहंकार व्यक्तित्व में बुद्ध और गाँधी की आत्मा के दर्शन होते हैं। मेरा कोई समकालीन आलोचक नहीं है, इसलिए भी कि कोई आलोचक मुझे आलोचक नहीं मानता। यह अच्छा है। आलोचक यदि आलोचक से मित्रता करेगा तो अनर्थ को गति देगा। हिन्दी में बड़े आलोचक सब ऐसे ही हैं।

*अपने काव्यालोचन के अनुभव से बताइए कि समकालीन हिन्दी कविता में आप किन कवियों को उम्मीद के साथ देखते हैं और क्यों?*

तुलसी का पत्ता क्या बड़ा क्या छोटा।

*आपके सर्वाधिक प्रिय कवि कौन हैं और क्यों?*

मेरे सर्वाधिक प्रिय कवि निराला हैं। क्यों का जवाब फिर कभी।

*आपके सर्वाधिक प्रिय कथाकार कौन हैं और क्यों ?*

मेरे सर्वाधिक प्रिय कथाकार प्रेमचन्द, रेणु, संजीव और सुरेन्द्र वर्मा हैं। क्यों का जवाब फिर कभी।

*एक अध्यापक के रूप में भी आपका अनुभव सुदीर्घ और व्यापक है। बिहार विश्वविद्यालय की शिक्षा-सेवा में आप चार दशकों तक रहे और एकाधिक बार हिन्दी विभाग के अध्यक्ष-पद को भी सुशोभित किया। हम जानना चाहते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विषय में आपके क्या विचार हैं?*

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर अलग से लेख लिखना पड़ेगा। यह विश्व के विकास के नये मॉडेल के अनुरूप है। यह सिद्धान्ततः उतनी अनुपयुक्त नहीं। किन्तु असल चीज व्यवहार है। इसमें शिक्षक गौण हैं, यन्त्र प्रधान। रोबोट की उत्पादन-प्रक्रिया को कोई वैज्ञानिक ठीक से विश्लेषित कर सकेगा।

❐